थोड़ा-सा आकाश

शशि शेखर

प्रतिभा प्रकाशन
श्रीनगर

प्रथम संस्करण
१९६६

प्रकाशक :
प्रतिभा प्रकाशन
श्रीनगर (कश्मीर)

★

मुद्रक :
इन्दु प्रिंटिंग प्रेस
वज़ीर बाग
श्रीनगर

मूल्य : दो रुपये पचास पैसे

आभारी हूँ —
जम्मू - कश्मीर कल्चरल अकादमी का
जिससे प्राप्त आर्थिक सहायता से
इस संग्रह का प्रकाशन
संभव हो सका।

आत्मकथ्य

प्रस्तुत चयन में संग्रहीत अपनी कविताओं के विषय में कुछ कहने की स्थिति मेरी नहीं है, क्योंकि उन के बारे में मुझे कोई दावा नहीं करना। उन्हें कुछ कहना होगा— और कहना तो है ही, तो उसे वे स्वयं कहेंगी। मेरे बीच में आने की कतई कोई ज़रूरत नहीं। पर विचार और अनुभूति के जिस धरातल पर उनका उदय हुआ है उसके विषय में दो - एक बातें कह डालूं तो शायद बहुत बेजा बात नहीं होगी।

वे क्षण जिनमें हम जीवन को उसके तीव्रतम रूप में अनुभवते हैं, जीते हैं, मेरे निकट कविता के ही क्षण हैं। शेष ज़िन्दगी तो रोज़मर्रापन को बस ढकेलते जाने की लम्बी और अर्थहीन प्रक्रिया मात्र है। आत्मानुभूति के क्षणों में जिस सत्य का उन्मेष होता है वही, मेरी समझ में, कवि का सम्प्रेष्य है, सत्य है। दूसरों से उधार लिए सत्यों से कभी जीवन - दृष्टि नहीं बन सकती। अतः जो भी अनुभव, संवेदन, विचार जीवन दे उनके प्रति मन को सदा खुला रखना ही मेरा कवि अपना धर्म मानता है। फिर यह अनुभूति भले ही सौंदर्य की सोनेरंगी प्यास का रूप धारण करे या पाप, उबकाई कुण्ठा के स्तरों को छुए! इसे अपना दुर्भाग्य कहूँ या क्या, जिन्दगी के अब तक के जो अनुभव मेरे हैं वे अधिकांश में घुटन के, टूटन के, आक्रोश के कड़ुवाहट के उबकाई के हैं।

एक अनुभूति जो अनेक बार, अनेक रूपों में मेरी कविता में उभरी है, किसी नामालूम अपराध के लिए क़ैद किए जाने की अनुभूति है। पर चूँकि इस कैद के सीखचे मेरे अपने बनाये नहीं है अतः उन्हें तोड़ कर मुक्त होने की तीव्र छटपटाहट भी मेरे कवि ने सदा अनुभव की है। किसी आध्यात्मिक या माया कारागार की बात नहीं कर रहा हूं— बात उस यथार्थ की है जो मुझे चारों ओर से घेरे हुए है।

बचपन में एक कहानी सुनी थी कि कश्मीर कभी एक लम्बी लुभावनी झील था, सतीसर, जिस में सती नौकाविहार किया करती थीं। पर एक जलवासी दैत्य, जलोद्भव, के कारण वे बड़ी परेशान थीं। और ज़ाहिर है कि उनकी इस परेशानी से सभी देवता परेशान थे। अंत में कश्यप ने एक स्थान पर पहाड़ को काटा और झील का पानी उसी रास्ते बाहर बह निकला। पानी के निकल जाने से जो भूखण्ड उभर आया उस पर मनुष्य निवास करने लगे। दैत्य जलोद्भव विवश होकर किसी अज्ञात दिशा में भाग गया! पौराणिक कथा तो इतनी ही है पर लगता है कि घाटी का वह भयंकर दैत्य मरा नहीं, लौट आया और घाटी का, या कहूं कि गुफा का मुख एक बड़े सारे पत्थर से ढँक कर उसने यहां के वासियों को कैद कर डाला। कभी-कभी वह इस विशाल पत्थर को सरका कर कहीं चला जाता है और हमारे लिए गुहा एक सोनघाटी बन जाती है जिसमें चीड़वन हैं, फूल हैं, पहाड़ हैं, झरने हैं, झीलें हैं, नदियां हैं, हरी घास है! पर यह सब घाटी के दैत्य के लौटने तक ही रहता है। थोड़ी देर की अनुपस्थिति के बाद वह लौटता जरूर है और तब ये चीड़वन, ये झीलें, ये फूल, ये झरने पुनः एक विशाल गुहा का रूप धारण

कर लेते हैं और हम स्वतंत्र मनुष्य न रहकर प्रागैतिहासिक अंधेरों में कैद हो जाते हैं !

एक और अनुभूति, जो शायद एक पृथक अनुभूति न होकर पहली अनुभूति का ही एक दूसरा रूप है, मन को बार-बार सालती है। मुझे लगता है कि मैं बलात् अथवा भ्रमवश एक गलत परिवेश से बांधा गया हूं, कि जिस दृश्य के बीच मुझे स्थापित किया गया है मैं उसका अंग नहीं हूं कि जहाँ मुझे आना चाहिए था उस मिट्टी से अलग और बहुत दूर बोया गया बीज हूं। मैं, जिसने अंकुराते ही यह अनुभव किया था कि जिस छोटे-से आकाश तले उसने आँखें खोली हैं वह उसका अपना नहीं है !

अपने परिवेश और अपने बीच का यह द्वन्द्व मुझमें एक तनाव की-सी स्थिति उत्पन्न करता है; आस-पास जो लिजलिजे मूल्य-मान और जो पंगु सत्य स्वीकृत हैं उनके प्रति घोर अस्वीकृति और असहमति का भाव जगाता है। और अस्वीकृति का यह भाव अकेलेपन की यातना को और भी तीव्र कर देता है। लगता है कि मैं निर्वासित हूं और यह लोग लोग नहीं हैं, ठण्डे अंधेरे हैं जो मेरे आस-पास से होकर गुज़रते हैं लेकिन मुझे छूते हुए निकल जाते हैं। जन-द्वेषी नहीं हूँ, पर भीड़ की बाढ़ से निज को असम्पृक्त रखने का प्रयत्न इस अकेले रह जाने का एक अनिवार्य परिणाम बनकर मेरे सम्मुख आता है। इसे निस्संगता कहें या "आउट साइडर" होने की भावना, पर यह मेरे अस्तित्व-बोध का एक अंग बन चुकी है। यह निस्संगता बोध, अस्तित्व का यह संकट मेरी कविता में भी अनेक स्वरों में निकला है।

प्रतिबद्धता की आजकल बहुत चर्चा है पर ढहते मूल्यों के बीच प्रतिबद्धता की बात मेरे विचार में बेमानी है। सामाजिक दायित्व को वहन करने और नये-मानव के निर्माण में योग देने की बातें अच्छी बातें हैं पर अहम्वादी या व्यक्तिवादी कुछ भी मुझे कहा जाए मैं यह ईमानदारी से स्वीकारना चाहता हूं। समूह के आतंक और उसके द्वारा अरोपित मूल्यों के प्रति मुझ में अवज्ञा और अस्वीकृति के अतिरिक्त और कोई भाव नहीं।

आक्रोश, हाँ आक्रोश भी मुझ में जागता है जब देखता हूँ कि हज़ारों लोगों का भाग्य उन लोगों की मुट्ठी में बंद है जिन के लिए मानव व्यक्ति की गरिमा खिलवाड़ की वस्तु है। जिनके पास करने के लायक कोई बात नहीं वे सत्ता के बल पर अपनी बात की महत्ता स्थापित करने में तत्पर हैं। जी में आता है इस सारी व्यवस्था को झटके में तोड़ दूँ जो मुमूर्षु आदर्शों के नाम पर व्यक्ति के स्वातंत्र्य का हरण करके, उसका विवेक छीनकर उसे एक चौखटे में बन्द कर देना चाहती है— वह चौखटा कितना ही खूबसूरत क्यों न हो! सोचता हूं कि आज के संसार की सब से बड़ी ट्रैजिडी यह है कि मीडियाक्रिटी के हाथ में नेतृत्व का झण्डा है।

अंतःसंघर्ष दृष्टि देता है पर कवि को संघर्ष अनेक स्तरों पर करना पड़ता है। औरों की बात नहीं जानता, पर अपने बारे में ज़रूर कहना चाहता हूं कि इस मामले में मेरी स्थिति उस गोताखोर की-सी है जो मोती लाने के लिए अथाह समुद्र में कूद पड़ता है पर पाता है कि वह काली लहरों के नीचे छिपे ऑक्टोपस की आठ-आठ टाँगों की भयंकर जकड़ में कसा जा चुका है! मोती

छूट जाते हैं और उसका सारा बल, सारा श्रम, सारा समय ऑक्टोपस की घिनौनी टाँगों की जकड़ से अपने को मुक्त करने में व्यय होता है।

आकाश के अनेक रूप देखे हैं पर एक मुक्त आकाश के नीचे रहने का सुख कभी प्राप्त नहीं हुआ। जो थोड़ा-सा आकाश मुझे मिला है उस पर प्रायः कोहरा और धुंआ ही छाये रहे हैं। इस अनुभूति ने मुझे तड़पाया तो है पर मेरी काव्य-परिधि को भी शायद सीमित कर दिया है। मेरी कविता सशक्त है या नहीं इस के बारे में कुछ नहीं कह सकता!

आज जिसे नया या आधुनिक बोध कहा जाता है उसके प्रति मेरा विशेष आग्रह है। यह नहीं कि आधुनिकता को फैशन के तौर पर ओढ़ कर चलता हूं पर यह ज़रूर कि अनुभव के जिस जलते बिन्दु पर आज का मनुष्य खड़ा है वही उसे दृष्टि और दिशा देगा—ऐसा मेरा विश्वास है। शेष सभी दिशायें धुँधली पड़ गई हैं, सभी रास्ते झूठे पड़ गये हैं!

आधुनिक कविता के साथ मेरा पहला परिचय अज्ञेय की कविताओं के माध्यम से हुआ इसके लिए मैं उनका चिर ऋणी हूं। डॉ० जगदीश गुप्त के शब्दों में वे नयी हिन्दी कविता के "शलाका पुरुष" हैं। हिन्दी में निस्संदेह अज्ञेय सुरुचि और प्रौढ़ता के पर्याय हैं। विदेशी कवियों में से नेरूदा, जिमिनेज़, वैलेजो, रिल्के, क्वासी मोदो तथा पाल इल्युआर मुझे विशेष प्रिय हैं।

लिखता बहुत कम हूं, अधिकांश समय एक विचित्र तनाव और कडुवाहट में बीतता है जो एक उबकाई लाने वाली सभ्यता मुझ में उत्पन्न करती है।

श्रीनगर, ५ फरवरी, १९६६

अनुक्रम

नदी का तट मौन

●

नदी का तट
मौन।
धार के उस पार
लेकिन
शब्द - सा यह
खिल रहा है
कौन ?

गीतः भोर के, साँझ के

गीत जो मेरे सिरहाने रख गई है भोर—
खुली बांहों के विकल परिरंभ में
कसते मुझे बन धूप !
छल रहा मुझको नई किस चौंध से
किस अर्थमय मुस्कान से यों रूप ?
पिघलते - से इंद्रधनु - सी रंगमय
यह आह कैसी प्यास—
आ रही मुझ को डुबाने
अरे मैं डूबा !
कि डूबे प्राण
डूबा बोध
जैसे
मौन की गहराइयों में डूबता है गान !
हो रहा है चेतना को
रंग की चल - लहरियों पर तैरने का
नया-सा आभास।
पिघलते - से इंद्रधनु सी रंगमय
यह आह कैसी प्यास !

और फिर यह काँपती-सी कोंपलों से
झर रही मृदु ओस की आवाज़ :
कौन - सा जादू रहा है आज घेरे डाल ?
फांसता मुझको
विवश कर, मुग्ध कर, आसक्त कर
कैसा रूपहरा जाल ?
आह, यह कैसी पहेली
मुट्ठियों में जो नहीं टिकता घड़ी भर
आह, यह कैसा फिसलता राज़ !
धूप यह, यह इंद्रधनु, यह ओस—
सत्य हैं ? या नहीं हैं ?—
या छल रही है दीठ को
उस सामने फैले क्षितिज की कोर ?
सत्य हैं, या झूठ हैं ? या हैं पहेली—
गीत जो मेरे सिरहाने
रख गई है भोर ?

गीत मेरी गोद में जो भर गई है शाम—
समर्पित ऐसे
कि जैसे गुच्छ घायल फूल का
झर जाय जो चुपचाप !
लग रहा मुझको कि अस्ताचल बना हूँ
सह रहा हूं डूबना यों सूर्य का
निरुपाय
जैसे बोरता हो प्राण को कोई पुराना शाप।

जम रही हैं चेतना पर
दर्द की परतें
कि जैसे जम रहा पंकिल अंधेरा
दूर के उस मोड़ !
दे सकूंगा मैं स्वयं का दान
यह अभिमान
मन अब भी न सकता छोड़ !
पर बिना कुछ दिये
लगता है मुझे ऐसा
कि मैं तो चुक गया हूं।
(झूठ है वह शृँग, वह गंतव्य मेरा
लक्ष्य वह अभिराम !
प्राप्ति का गौरव निरर्थक दम्भ !)
संशयों के अजगरों से घिरा निज को देख, हो भयभीत
मैं तो रुक गया हूं।
लग रहा मुझको कि मैं तो चुक गया हूं।
एक मिट्टी के खिलौने-सा अचानक
ज़िन्दगी मुझको गई है तोड़।
और बिखरे खण्ड उसके जोड़ कर हूं
ढूंढता मैं फिर-फिर वही तो रूप
जो कि मेरा था—कि जो मैं था—
मगर जो मैं नहीं हूं।
जो कि बस आभास है उसका
कि जो था।
जैसे सांझ की मिटती हुई-सी धूप

जैसे शरद का बादल विरस निष्काम ।
सत्य हैं ? या झूठ हैं ? या हैं पहेला—
गीत मेरी गोद में जो
भर गई है शाम ।

एक खूबसूरत दिन

आज एक बहुत खूबसूरत दिन
मुझे अनायास ही मिला।
क्वांरी धूप के अनगिनती नर्म चुम्बन
मन की हर टूटन पर बिछल गए
गुच्छ-गुच्छ फूलों के तरल स्पर्श
बहे
और प्राणों में धंसे-बसे
संशय को धो गए।
' प्यार ' :
नीले-रेशमी रुमाल-सा
कौन इस शब्द को
आज फिर मेरे सामने लहरा गया ?
क्षितिज पार करता हुआ
वनपाखियों का एक जोड़ा
(लगा मुझे)
मेरे भीतर कहीं पंख खोल उड़ने लगा
छोटी-छोटी लहरों में बतियाता-सा
झील का जल

जाने क्यों आज मुझे भा गया।

सोचा इस दिन का—
इस खूबसूरत दिन का क्या करूं ?
इसे अपने कोट में फूल-सा सजाऊं ?
या तुम्हारे जूड़े में इसे भरूं ?
इस दिन का—
इस खूबसूरत दिन का क्या करूं ?
इसे अपने घायल अहम् की बैसाखी बनाऊं
या पंख ?
इससे अपनी निर्वसना कुण्ठाओं को ढकूं
या प्राप्ति की पताका बना
मन में कहीं लहराऊं ?
तुम्हारे माथे पर
रंगीन बिन्दी सा इसे जड़ दूं ?
या किसी शिशुभाव के रिझाने के लिए
गुब्बारे - सा इसे उड़ाऊं ?
इस दिन का—
इस खूबसूरत दिन का क्या करूं ?
? ? ? ? ? ? ? ... ...
मैं सोचता रहा ... सोचता रहा .... सोचता रहा,
मगर मैंने कुछ भी तो किया नहीं।
रस का अबाध एक झरना
कहीं से मेरे लिए फूटा था
मैंने अंजुरी दी

मगर पिया नहीं।
आह, यही है क्या मेरे संकल्पों का बल
आज के इस खूबसूरत दिन भी
मैं पूरी तरह जिया नहीं!

आज एक बहुत खूबसूरत दिन
मुझे अनायास ही मिला!

रिक्ति

●

नहीं है आह्लाद
ज्वार - सा निर्बाध बहकर
(नदी ज्यों बरसात में)
खुद को बाँटता जाऊँ
उसका
तुम्हारा
सभी का हो लूँ !
या वनश्री से निरंतर
झर रही जो गूंज
छनकर
डाल पातों से
(गीति प्रमुदित पाँखियों की)
उसी - सा मैं
उसके
तुम्हारे
सभी के मन में
झरूँ
गूंजूं
मुग्ध हो गाऊँ

मुदित डोलूं —

नहीं है आह्लाद !

नहीं है दर्द —
(आत्मा का उदित वह पुण्य)
क्रॉस पर लटके मसीहे - सा कहूं
लो, बाद में कीलें नुकीली—
हाथ में ठोंको
तुम्हारे वास्ते मैंने
घृणा में
कीच में
अपमान में धँसकर
अछूता सत्य लाया है।
उसे मैं आज तुमको सौंपता हूं
अब मुझे सूली मिले
या ताज कांटों का
सहज स्वीकार !
या
(स्वयं को मसीहा कह
यदि हो गई हो भूल)
मोमबत्ती की पिघलती पर्त-सा ही
कहूं
मैंने तो सही है आंच
मैंने ज्योति पाली है

तुम्हारे ही लिए
ओ बन्धु मेरे !
ज्योतिवाही मैं
तुम्हीं को सौंपता हूं
आज यह आलोक की थाती।
संभालो,
दिख जायेंगे तुम को—
अभी तक बंद थे जो—
द्वार !

पर नहीं है दर्द !

तो क्या है ?
आत्मा में बसी जो अनुभूति
उसको कहो क्या दूँ नाम ?
या कुछ भी नहीं है ?
रिक्त हूं मैं ?

•

कच्चा सेतु

वेगवता नदी का अमर्याद प्लवन
मेरे सामने से घरघराता हुआ जा रहा है।
क्रुद्ध जल का अहम्
बड़े - बड़े पत्थरों को रेत करता हुआ
विशाल गरुड-सा झपट्टे मारता है।
मैं नदी के इस पार
पतलून की जेबों में हाथे डाले खड़ा हूं
भयातंकित।
मगर मेरी दृष्टि नदी के उस पार पर जमी है,
वहीं है मेरी उपलब्धि का
रहस्य–बिन्दु।
मैं देखता हूं ——
बादलों से निकल कर कई हाथ
मुझे पास बुलाते हैं
हरे-भरे वृक्षों के बीच से
अनेक आंखें
मेरी ओर एकटक देखती हैं,
देखती हैं और प्रतीक्षा बन जाती हैं।

सूर्य की किरणों में दिपते
मंदिरों के कलशों-से
मेरे हज़ारों अनुत्तरित प्रश्नों के समाधान
दृगों में कौंध - कौंध जाते हैं।
वेगवती नदी का अमर्याद प्लवन
(नदी जो समय है, प्लवन जो नाश है)
मेरे सामने से
घरघराता हुआ जा रहा है।
मैं पतलून की जेबों में हाथ डाले
नदी के छोर पर खड़ा हूं
मौन, असहाय।
किन्तु उस छोर पर स्थित
रहस्य-बिन्दु
बुलाते हाथ
दिपते समाधान............
पागल हो जाऊँगा !

नहीं ... नहीं ... नहीं !
मैं यह विवशता सह नहीं सकता !
मुझ में जो पुरुष है
मुझमें जो शिल्पी है
मुझमें जो श्रमकर है
वह हार नहीं मानेगा।
वेगवती नदी मेरे सामने से बह रही है—
मैं सेतु रचता हूं।

किन्तु ... किन्तु ... किन्तु ...
आज जब सेतु बना है, खड़ा है
मेरे पाँव उठ क्यों नहीं रहे ?
काँप क्यों रहे हैं ?
क्यों बार-बार यह भय, यह संशय
प्राणों में सिहरन भरता है
कि कहीं ऐसा न हो
मेरे श्रम का, शिल्प का प्रतिफल
सेतु यह
कच्चा निकले
पग धरते ही बीच से टूट जाए
और मेरा प्राप्य उस पार छूट जाए
और नीचे
वेगवती नदी का अमर्याद प्लवन ...

तुम्हारा प्यार और जल की तीन उपमायें

तुम्हारा प्यार
ज्वार नहीं है
चढ़ आई नदी के उच्छृंखल जल का ;
उद्दाम, अनियंत्रित आवेग :
जो विवश
अशक्त
असहाय करके
मुझे बस बहा ही ले जाए
मैं यह भी न जानूँ
क्या नियति है
कहां यति है,
सिर्फ बहता रहूं।
दिशाहीन प्रवाह के अंधे - अजाने संकेतों को
समझूं नहीं
सिर्फ सहूं।
ऐसा दुर्निवार
तुम्हारा प्यार नहीं
ज्वार नहीं
चढ़ आई नदी के उच्छृंखल जल का।

तुम्हारा प्यार
नहीं है तीर्थ का जल भी—
क्षण-भर निमज्जन
और फिर तन-मन
पूत परस से आश्वस्त
और यह भान
कि बस अब मुक्त हूं
उस सब से निस्संग हूं
जो तुम्हें नहीं छूता है।
और जो कुछ तुम्हारा है
वलयित किये है मुझे
गंधित - धूम - सा
उसीका मौन स्वीकार।
तुम्हारा प्यार
मगर नहीं है तीर्थ का जल भी।

तुम्हारा प्यार सागर है।
नीली असीमता का संस्पर्श
जो विस्मय नहीं
आतंक नहीं
सिर्फ आनंद का निर्बन्ध बोध है।
कि मुझे लगता है
मेरी आत्मा को कस रहे लंगर
टूटते हैं ... ... टूटते जाते हैं ... .
और मैं

पवन-दोलित जलयान - सा
तिरता हूं ... तिरता हूँ ... तिरता जाता हूं ...
और पाता हूं
कभी कोई प्रवाल - द्वीप
कभी सूरज
कभी तारा।
या कभी तट पर हूं
सीपियाँ टटोलता - खोलता
और सुना करता मन
हर आती लहरी का
हर गाती लहरी का
आमंत्रण ... आमंत्रण ... आमंत्रण ...
दिन भर है।
सागर है तुम्हारा प्यार
ज्वार नहीं चढ़ आई नदी के
उच्छृँखल जल का
और न तीर्थ का जल ही
तुम्हारा ... प्यार ... सागर ... है ...।

दिन की मृत्यु: एक शोक गीत

मेरा दिन
रात की स्याह चट्टान से टकराकर
मर गया !
मैंने गहरे अवसाद में
अनजाने ही चूमे हैं ये किसके केश ?
ये किसके अधर ?
यह किसका अनजाना स्पर्श
मेरी शिरा - शिरा में बज रहा है ?

मेरा दिन एक हरी पत्ती था
उस वृक्ष की
जो मुझ में कहीं उगने वाला था।
मेरा दिन एक लहर था
उस नदी की
जो मुझमें कहीं बहने वाली थी।
मेरा दिन अजन्मा ईश्वर था
जो मेरी हथेलियों पर
कभी जन्म लेने वाला था !

ओ अनामे !
मैंने अनजाने ही छुए हैं ये जिसके केश
ये जिसके अधर
क्या तुम हो ?
जिसने नोच ली वह हरी पत्ती
जिसने सोख ली वह लहर
जिसने अजन्मे ईश्वर को
जन्म से पहले ही मार दिया —
क्या तुम्हीं हो ?
तुम ओ क्रूर ... सुन्दर ... क्रूर ... सुन्दर ... क्रूर !

मेरा दिन रात की स्याह चट्टान से टकरा कर
मर गया !
काश मैं जान पाता
इस काली चट्टान का रहस्य
काश मैं समझ पाता इसका भेद
तो कल
नये दिन के साथ नया उगता
क्योंकि मेरे ओठों पर
मौत का जलता स्पर्श है !

दर्द जो मसीहा नहीं

उसे घृणा के काले सलीब पर मत टाँगो
मेरा दर्द अभी छोटा है
उससे मसीहाई मत माँगो !
अभी वह दौड़ता है लौटती हुई लहरों के पीछे
अभी वह जाता है भटकी हवाओं के संग
अभी वह रचता है बार बार टूटे घरौंदे
अभी सीखे नहीं हैं उसने
बड़ों के ढँग !

जाने क्यों
ऊँची दीवारों पर चढ़ता है गिरता है
तपती दोपहरी में नदिया की रेती पर
नंगे पाँव फिरता है।
जाने क्या सोचकर
आँगन की माटी में
उँगली से चांद और सूरज बनाता है।
बस ऐसी ही बातें
वह अक्सर कर जाता है।
उसे किसी विराट अपराध से

जोड़ने का इरादा त्यागो ।
उससे मसीहाई मत माँगो
वह अभी छोटा है
उसे घृणा के काले सलीब पर
मत टाँगो !

नॉस्ताल्जिया

रात की विराट अर्थहीनता से आतंकित
मैंने जब-जब तुम्हारा सामीप्य चाहा है
अपनी बाहों में एक सफेद नदी-सा
तुम्हें पाया है।
जिसमें खुद का अंश-अंश
पत्तियों सा बहाकर
मैंने रात गुज़ार दी है।

दोपहर की भयंकर शब्दहीनता से घायल
मैंने जब भी तुम्हारा नाम उच्चारा है
मेरे भीतर कहीं
गुलाबों का एक वन-खण्ड उतर आया है!
गंध की अनिवार्यता में
ऋतुओं के संगति-सा घुलकर
मैं दोपहर जी चुका हूं।

और आज—
जब मैं एक ऋतुहीन जड़ता में
जकड़ा जा चुका हूं
और मेरी बांहों में

नदी नहीं
एक काई-जमी चट्टान है
और मेरी आत्मा
एक तीखे तेज़ाब में घुलती जा रही है—
आज भी
यातना-कीलित मेरा प्रेत
तुम्हारे गुलाब-वनों में
गुलाब सूंघने को
भटक रहा है।

प्रातःकाल—वसंत नमन

●

सद्यः जाग्रत झील के पीछे
अनेक रंगों में हंस रहा आकाश।
हवा की पारदर्शी परतों में खिला हुआ
बारिश-धुली सुबह का चेहरा।
सफेदों और बेद की पत्तियों
और पोस्ते के फूलों पर बज रहा
धूप का उल्लास।
बिजली के तारों पर बुनी गई
पक्षियों की एक उजली सिम्फनी।
जो अब तक छायायें भर थे
उन अनदेखे बिम्बों के रुपहरे पाश
बांध जाते हैं
अप्रस्तुत मन !
कि वसंत नमन में सहसा
झुक जाती है
विभोर आत्मा, विमुग्ध तन।

प्रश्न : तुम से

हवा में बेतरतीब फड़फड़ाते
कागज़ के पन्नों सा
बिखर-बिखर जाता हूं।
तुम आती हो
बिखरे हुए पन्ने समेट
किसी नन्हीं सी पिन से जोड़
या किसी पेपरवेट से दबा
मेज पर ढ़ंग से सजाती हो—
मैं फिर एक हो जाता हूं।

वर्षा में ढह रहे
किसी कच्चे घर की ईण्टों-सा
टूट-टूट जाता हूं।
तुम आती हो
ढही-टूटी ईण्टों को जतन से बटोर
फिर से एक व्यक्तित्व दे जाती हो
घर बनाती हो
मैं फिर आकार पा जाता हूं।

ओ तुम।
मेरे बिखरे रहे अस्तित्व
और टूट रहे व्यक्तित्व के बीच
उलझी हुई
श्रमक्लांता
ओ तुम !
अनिवार्य को रोकने का अनथक उद्यम
कब तक करोगी......
कब......तक......   ?

विभाजन

एक उदास शाम के थके संगीत-सा
मैं जब भी तुम्हारे पास झुक आता हूं
तो पाता हूं
कि आकर्षण के उस बिन्दु से
मुझे काटती हुई
तुम एक नदी बन कर बह निकली हो
और मैं
तुम्हारे इस किनारे
और उस किनारे
बंट जाता हूं !

रात एक ठण्डी काली छुरी

रात एक काली, ठण्डी छुरी-सी
मेरे भीतर धंस गई है!
(मुझ में धंस गया है आकाश का
दिशाहीन विस्तार
मुझ में धंस गया है तारों का—
व्यथाहीन मौन
मुझ में धंस गया है अंधेरे का—
परिचयहीन एकान्त)
रात एक ठण्डी, काली छुरी-सी
मेरी चेतना के स्तर-स्तर को काट रही है।
मेरे रक्त से लाल
समय
एक दिशाहारा नदी-सा बहकर
स्मृति के मृत्यु-गंधित सागर में
जा गिरता है!
और जल में बिम्बित हर परछाईं को मैं
सहस नारसिसस-बोध से
पहचान लेता हूं

ग्रौर देखता हूं :
प्रेम की तर्कातीत स्वीकृति को
प्रेयसी के ग्रोठों पर मुद्रित करता हुग्रा
एक प्रेमी;
ग्रौर
ग्रपनी देह को धनुष-सा झुका कर
प्रश्नों की बेरहम दूरियों को
बाण पर बाण मार बींधता हुग्रा
धीर दार्शनिक ;
ग्रौर
दूसरों की प्यास को कंधों पर लादे
जलते रेतीले विस्तारों पर चल रहा
जलोन्मुख
पागल मसीहा;
ग्रौर नीली-पीली बत्तियों के प्रकाश में
मंच पर मुखौटा पहन
ग्रकेलों की भीड़ को
हंसाता हुग्रा
उदास मसखरा।
ग्रौर परछाइयाँ ... ...
ग्रौर परछाइयाँ ... ...
ग्रौर परछाइयाँ ...
उफ कितनी बेरहमी से रात
मेरी चेतना के स्तर-स्तर को काट रही है।
प्रेमी, दार्शनिक, मसीहा, मसखरा ... ...
मुझको कितनी छायाग्रों में बाँट रही है!

बंद द्वार

नहीं, द्वार नहीं खोलूंगा।
बाहर जो
चेहरों की
नामों की
आवाज़ों की भीड़ है
उसका नहीं हो लूँगा।
द्वार नहीं खोलूँगा !

बाहर —
सड़कों की अर्थहनि ज्यामिति पर
झूठी यात्राओं को ढोते हुए पहिये
कीचड़ में धंस गये हैं।
बाज़ारों में
उबकाई लाने वाले मलबे को
फूलों से ढंक कर
सभ्यता के नाम पर बेचा जा रहा है।
बाहर —
हवा को शायद ज़ंग लग गई है;

आसमान ने खुदकुशी कर ली है;
और उसके घाव से
रक्त नहीं
आशंकायें टपक रही हैं;
स्तब्ध वृक्षों के पीछे सूरज
एक चिमगादड़ सा लटक गया है!
इन सभी स्थितियों का दर्द
दीठ पर
चुपचाप कैसे ढो लूंगा?
द्वार नहीं खोलूंगा?

भीतर मैं सुरक्षित हूं
अंधी छायाओं के खूनी पजे
मुझ तक नहीं आ सकते
नगर को रौंदते हुए आवाज़ों के हुजूम
मेरे निहत्थे सत्य को
नहीं पा सकते ... ...
भीतर मैं सुरक्षित हूं
भीतर —
नींबू के फूलों - सा सुन्दर
तुम्हारा गीत महक रहा है!
प्यार के आवेग में काँपता हुआ
तुम्हारा जिस्म
मुझे निषिद्ध सुखों के स्वर्ग में समेट रहा है!

शायद यह सब ज़्यादा देर नहीं टिक सकेगा
पगलाई भीड़ की खौलनाक दस्तकों से
यह द्वार — सुरक्षा का यह भ्रम —
आखिर टूट जायेगा।
और उफनाता हुआ शोर
मुझे और मेरे बंद कमरे को
पी जायेगा!
किन्तु तब तक ... किन्तु तब तक ... ...

पार्क की शाम

●

रंगों की लहरें
धीरे-धीरे आती हैं
और छू जाती हैं
आत्मा पर छाया
सहस्रों सूर्यास्तों का दर्द !
पार्क की इस साझी-सँध्या में
हम दोनों मौन
बहा देते हैं—
चेतना की परतों में कुलबुलाती
आदिम व्यथाएँ,
मन की सिलवटों में उलझे
चिन्ताओं के हस्ताक्षर,
और वे प्रश्न
जिनका भयंकर आकर्षण मृत्यु है ! —
फूलों के अंतस् से फूटे
अवाक् रंगीन संगीत में।
बहा देते हैं—
वे झूठे आकाश

जिन्हें छूने के प्रयास में असफल हो
हम आत्महत्या को निकले थे!
वे झूठे ईश्वर
जो हर चट्टान की दरार से
हमारे पाप पर हंसते रहे।
बहा देते हैं—
सभ्यता के कबाड़खाने से लिए हुए
मुखौटे,
किसी की उतारन-सी पहनी हुई

दार्शनिक मुद्राएं।
धूल-भरी थकान से
दुखी-ऊबी हमारी आंखों को
रंगों की लहरों पर
उठता-गिरता
यह अनोखा दृश्य
यह विचित्र जुलूस
कितना अजीब लगता
मगर कितना आरामदेह!
और धीरे-धीरे अनेक रंगों की यह लय
विलीन हो जाती है,
विलीन हो जाती है एक व्याख्याहीन
काले रंग के वृत्त में।
और शेष रह जाता है रहस्यगर्भ मौन
और शेष रह जाते हैं

हम—
नग्न, अनावृत्त, सहज !
समय के किसी सुदूर क्षितिज पर
दिपते
दो बिन्दु—
स्नेहिल !

निर्वासन के क्षणों में एक प्रार्थना

सहता हूं
अजनबी उपस्थितियों में
अपना ही परायापन।
मानो किसी पराई ज़िन्दगी का बोझ लादे
ठण्डे अंधेरों के बीच
भटक रहा हो मन।

हवा में यहां नहीं है सपनों की गंध
या कबूतरों के पंखों की उड़ान
या जो रंग-बिरंगे गुब्बारों - से
ऊपर को उड़ा दिये गये हों—
वे किसी भी मौसम के गान।
सिर्फ चारों ओर एक ठण्डा
इस्पाती स्पर्श है।
शायद दो अंधेरों के बीच
यहाँ कोई सूरज नहीं
जो ओस-न्हाई हरियाली खिला सके।

एक तीखी धुंध
मुट्ठी में
बंद खिड़कियों का रहस्य लिए
गुज़र जाती है
कुछ नहीं कहती।
आवाज़ें
पहाड़ियों की चोटियों पर
आदिम-बर्फ़-सी जमी हैं,
पिघल कर पास नहीं बहतीं!
और नज़रें
ज़हर की एक शताब्दियों लम्बी झील में
डूबती हैं
डूबती चली जाती हैं।
शायद दो चुप्पियों के बीच
यहां कोई अर्थ नहीं
जो सेतु बन सके।

कहां आ भटका हूं!
किसी के माथे पर यहां
नई सुबह नहीं
सिर्फ़ बासी कल है।
नहीं, किसी के पास भी नहीं वह जल है
जिससे अभिषिक्त हो पुनः जी उठे
वह
जो हम सब के विश्वासों में

मृत है।

ओ प्रभु !
मुझे समय से दे दो एक रविवार
और उजली धूप का एक कोना,
जहां चेरी के फूलों-सा खिल जाए
वह
जो अनुपस्थित है।

थोड़ा-सा आकाश

कुछ अनाम फूलों और पत्तियों ने
चीर दिया है घने कोहरे की परत को।
और हमारे लिए खोल दिया है
थोड़ा-सा आकाश !
काँपती हुई हरी घास लौटा रही है
एक भूले जा चुके स्वर्ग की पगध्वनियां,
बिना कुछ बोले
हवा हम से छीन लेती है वह दृष्टि
जो मटमैले सूर्यास्तों,
गंदले पानी,
और राख की ढेरी से निर्मित थी।
हमारी आंखों में अब अनदेखी ऋतुओं का,
अनभोगे क्षणों का उन्मेष है।
शायद हमारे प्यार में
अब भी कोई अर्थ शेष है।
शायद हम अपनी कहानी—
नक्षत्रों से, धूप में पके अंगूरों से
और कविताओं से फिर शुरू कर सकेंगे।
तुम—जो एक गंध हो, रूप हो अथवा

नाम हो—
आओ और मेरे पास
इस हरियाली ढकी चट्टान पर बैठ जाओ।
निःशब्द समर्पित हों तुम्हारे ओठ
मेरे सरल विश्वासों की आकुलता पर :
ओस–भीगे दो टटके गुलाब
गीले !
निःशब्द
हँस दें आस पास के रंग
सुर्ख बैंजनी, पीले !
आह,
यही, इतना ही आकाश
हमारी बाहों के घेरे में सच हो
इसी, इतने ही संदर्भ में
हम जी लें !

एक शहर : कुछ प्रभाव

मैं वहां हूं
जहां पत्थर उगते हैं।
जहां दिन एक विशाल घाव-सा
खुलता है
जिससे टपकता रक्त
मैं माथे से बार-बार पोंछ डालता हूं।
जहां फूलों के खिलने की कोमल प्रतीक्षा नहीं
हवा में किसी भयंकर छल का
उत्तेजित रहस्य हंसता है।
जो भी जितना भी थोड़ा आकाश
नजरों को यहां मिलता है
उसपर हजारों केंकड़े रेंग आते हैं
और बीमार रोशनी की देह से चिपक जाते हैं।
कोलतार की यह नंगी
गर्म सड़क
लोगों की पसलियों के बीच से होकर
एक सुरंग बनाती है
जो शायद किसी आदिम युग के अंधेरे में
खुलती है

और जिसमें से
विशाल वन-दैत्यों की
विस्मयकारी चीखें गूंजती हैं।

आह !
वसंत की सुलगती हुई दूरियां
मेरी आत्मा में धुआं भरती जा रही हैं
और मैं दर्द से लगभग अंधा
टटोलता हूँ उस आवाज को
जो तुम्हारी है —
जो सिर्फ तुम्हारी हो सकती है !

एक नामहीन स्थिति

●

यों मैं अब भी
दृश्यों से गुज़ारा जाता हूँ;
संदर्भों के बीच उछाल दिया जाता हूं;
क्षणों के रेतीले विस्तार पर
बिछाया जाता हूं;
अपनी मुट्ठी में अब भी
घायल आकाशों को तड़पता हुआ पाता हूं।
पाँव मृत यात्राओं से टकराकर
ठिठक जाते हैं!
खाली बोतलों - सी बजती हुई आवाज़ें
और धुँधुआते अंधेरों - सी चुप्पियाँ
चेतना को छूती हुई निकल जाती हैं......
और भी कितनी ही
अर्थहीन - अंधी स्थितियाँ
मुझे अपने छोटे-छोटे वृत्तों में पाती हैं
किन्तु मैं स्वयं को उन में नहीं।
हाँ,
गर्म काफी के प्याले में

मैंने अपने लिए
दिन के कुछ बिम्ब
चुरा लिये हैं,
जिन में मैं तुम्हारी हंसी
और अपनी कविता पाता हूं।

सूर्योदय एक प्रतीक्षा–एक संभावना

इन झुके हुये कोहरा - डूबे माथों पर
अब एक नया सूर्योदय लहरायेगा।
संदर्भों से टूटी इन यात्राओं को
अब नया दर्द फिर से पथ दे जायेगा।

काई की झाँई से अंधी दीवारें —
इनसे रंगों का मुखर बिम्ब फूटेगा !
जिसमें बंदी है एक समूची पीढ़ी
वह बन्द किवाड़ों का तिलिस्म टूटेगा।

चुप सूर्यमुखी - सा कोई फूल हँसेगा
बंजर अंधियारों का खालीपन भरने।
फिसलेगी ही यह शिला बंद ओठों से
फूटेंगे कुचली आवाज़ों के झरने।

चौराहे पर बैठे स्फिंक्स की माया
पागल न करेगी अब प्रश्नों के छल से
प्यासे जन की मुट्ठी में उत्तर होंगे
जो उसे मिलेंगे आने वाले कल से !

नज़रें दृश्यों के नये अर्थ खोलेंगी
धुल जायेगा शापित क्षितिजों का तपना।
चीड़ों से बहती हवा सभी को देगी
रोरिक के चित्रों-सा हिमगिरि का सपना !

सूरज तो एक प्रतीक्षा है अब भी पर
इन खुली खिड़कियों से वह क्षण आयेगा—
इन झुके हुए कोहरा - डूबे माथों पर
जो एक नया सूर्योदय लहरायेगा !

रेत होने का दर्द

फैलता ही जाता है दर्द —
टूट–टूट रेत होने का !
स्वप्न फूल से खुल रहे
अनजान क्षितिजों को
अंधे - रेतीले बवण्डरों में खोने का !

एक हरा संगी
एक सोनरंगी प्यास
(जो कभी मैं था)
परत - परत चेतना से झड़ चुके हैं
और मेरा अकेला - नंगा व्यक्तित्व
एक काले सूरज की याहीन संभावना से
जुड़कर
रेत होने को विवश है !

रेत !
अनुभव के जिस जलते बिन्दु पर
मैं खड़ा हूं
मेहरबानी करके उसे छुओ नहीं !

न, स्मृति की गंध से
चरम यातना के इन क्षणों को अभिषिक्त न करो,
यों बेचैन न हो जाओ
तुम—जो एक मधुर स्वप्न की
रंगीन लहर हो —
मेरे हाथों से छूटकर
काँच - सी बिखर जाने को !
लो, मैं लौटाता हूँ वे वसंतगीत
जा समर्पण के किसी अज्ञात सुख में
मुझे तुमसे मिले थे;
मेरे हृदय में
उन निष्कलुष गुलाबों का प्रकाश
अब नहीं रहा
जो हम दोनों की साझी संध्याओं में
अनुभव के शब्दातीत छोर पर
खिले थे !
गर्म रेत की परतों में गहरे, बहुत गहरे
मेरे वे सभी चेहरे दब चुके हैं
जिन्हें पहन कर मेरी आत्मा
प्यार करती थी या घृणा
और अब मेरा कोई भी चेहरा नहीं !
मेरा सत्य अब
काले सूरजों, अंधे बवण्डरों और
धातु के आकाशों से जुड़ा है !

मेहरबानी करके
मुझे अकेला छोड़ दो।
मत छुओ मेरा यह दर्द —
एक सुलगते हुए रेगिस्तान को
जिजीविषा के अंतिम बिन्दु तक
ढोने का!

एक चीखता हुआ बिम्ब

मैं जानता हूं
कि वे सभी पुल तोड़ दिए गये हैं
वे सभी मार्ग
किए गये हैं अवरुद्ध
जो मुझे इस अंधी-घाटी से बाहर
कथा के उस संदर्भ तक पहुंचाते
जहाँ मैं अपना नायक आप होता हूं।
और मैं धकेल दिया गया हूं
एक चीखते बिम्ब-सा
कुहासे की परतों में धड़क रहे
इस अजीब दृश्य में।
नहीं मैं इस कड़ुवे परिवेश में
घुलनशील नहीं!
मैं इन अंधेरी परतों से तैर कर
बाहर आने को छटपटा रहा हूं!

सभी पुल टूट गए हैं,
सभी मार्ग अवरुद्ध हैं,
और मैं एक चीखते हुए बिम्ब - सा
इस दृश्य में धकेल दिया गया हूं!

यद्यपि यहाँ भी हैं सभी के
सफेद-बर्फ सी आदिम हंसी हँसते हुए
अपने - अपने पर्वत शिखर
यहाँ भी चीड़ों के बीच
हर शाम उतरता है एक हरा संगीत
जिसकी लय पर थिरक उठती है
जानी - अनजानी कोई गंध !
एक उजली नदी
दो मधुर ओठों पर मुस्कानें उछालती —
बहती है
मगर कुछ नहीं कहती !
मगर मैं आदिम बर्फ से ढका हुआ
वह शिखर नहीं हूं,
मैं वह संगीत भी नहीं हूं,
वह उजली नदी भी नहीं !
क्योंकि मैं जानता हूं उस तीखे विष को
जो हर शाम उतर आता है
और जिसके छूते ही
ये शिखर, यह संगीत, यह नदी
सभी मर जाते हैं
और उनकी मृत्यु मुझे चुपचाप
ढोनी पड़ती है !

आज की रात
(सुनता हूं)

एक ज़ोरदार तूफान आने वाला है।
चीड़ के हरे वृक्ष आशंका से थर-थर हैं ;
भूरी चट्टानें भय से दाँत किरकिरा रही हैं;
सड़कों और मकानों की रीढ़ में भी
एक अजीब त्रास की सुरसुरी
रेंग रही है !
आज की रात एक भयंकर तूफान
आने वाला है !
शायद आसमान के चहकते हुए रंग
मृत पक्षियों - से धरा पर गिर पड़ें !
मगर मैं भयभीत नहीं
इस अंधेरे सीमान्त पर एक दीवार से—
सटा हुआ
मैं प्रतीक्षा में हूं
कि कब वह खूँख्वार वनैला पशु
मुझे सूंघता हुआ आयेगा
और मेरे पिण्ड के चीथड़े - चीथड़े कर देगा
और मैं इस अंधी घाटी के परिवेश से
मुक्त हो जाऊँगा
जैसे पहाड़ी पर से लुढ़कता हुआ
पत्थर !

पर शायद यह तूफान भी
महज़ एक खुशनुमा झूठ हो।
शायद यह प्रतीक्षा भी जायेगी व्यर्थ !
मुझ से क्यों किसी ने (किसने ?)

कहा था
कि इन अंधेरों में भी
अनार के फूलों - सा
चमक सकता है
कोई अर्थ !

विशाल पँखुड़ियों वाला फूल

बिफरे जानवरों-सी
बेतहाशा भाग रही बसों
और कोलतार की सड़कों पर हाँफ रहे
समय के बीच
एक फूल अपनी पंखुड़ियाँ खोलता है
धीरे-धीरे।
एक विशाल लाल फूल
जिसका गँधमय आलोक
खौफनाक नुकीले सींगों पर गिर
लहू-लुहान होता जा रहा है!
अंधेरा
शोर से लथपथ भीड़ को
हाँके ले जा रहा है
पुल के पार।
शहर नियॉन रोशनियों के संकेतों पर
मद्यप-सा हंस रहा है।
और उदास आँख-सा डबडबा रहा है
यह विशाल पँखुरियों वाला
लाल फूल!

गन्ध लुब्ध हूं,
और सबकी आंखें बचाकर
प्रार्थना - रत हूं
कि इस महकते हुए आलोक को
अपने घर-आंगन पहुंचाकर
अपने कमरे को सौंप सकूं,
इससे पूर्व कि कोई बस आकर
उसे कुचल दे,
शोर से लथपथ भीड़
उसे पैरों तले रौंद डाले !

मुझसे पूछा जाता है अक्सर

मुझसे पूछा जाता है अक्सर—
कि यह जो बर्फ की सफेद परतों—
के नीचे
सुर्ख रंग में सुलग रही है एक मुस्कान
उसे मैं क्यों नहीं सका हूं अबतक पहचान ?
मैं क्यों नहीं दे पाया हूँ उसे अभी तक
एक हरी कोंपलों वाली टहनी
एक स्वीकृत खुला आसमान ?

मुझसे पूछा जाता है अक्सर —
कि यह जो नीले शैल शिखरों के बीच,
कहीं सोई है एक झील
मैं क्यों न जगा पाया हूं उसे
बनकर (और कुछ न सही) एक नाव,
हर दिशा से बहती आती हवा को
जो दे एक स्वीकृति, एक लय, एक गीत !
क्यों जाता हूं हर बार बीत
सड़ रहे समय-सा तट की शैवाल में ?
या फिर लहरों को समर्पित हर पाल
क्यों खोलता हूं केवल घाव ?

मुझसे पूछा जाता है अक्सर
कि यह जो धुंधले क्षितिजों के पीछे
फड़फड़ाते हैं दो थके सुनहले पर
मैं क्यों नहीं उन्हें सौंपता हूं एक घोंसला,
एक खिड़की, एक स्वर!
या फिर इस रोशन उड़ान का दर्द
क्यों नहीं भीतर कहीं सहता हूं?

मुझ से पूछा जाता है अक्सर ... ...
... ...
मगर मेरे भाइयो, मेरे दोस्तो
मैं हूं बेकार, अपाहिज, गरीब
कहां संभालूंगा (तुम्हारे) ये इतने प्रश्न,
यह इतनी जिज्ञासा
ये इतनी बातें?
मेरे लिए सत्य हैं केवल ये ठण्डी रातें
और यह फटी हुई दरी,
यह तंग अंधेरा कमरा: (मेरा सलीब
जो हर शाम ढोता है मेरी
अनेक मौतें)!
फिलहाल मेरे पास नहीं है कोई सीढ़ी
कि इस ठण्डे अंधेरे से उतर कर आजाऊं
तुम्हारे चुंधियाने वाले प्रकाश के करीब
जहाँ बेचैन भटक रही है एक पूरी पीढ़ी!

ऑक्टोपस

●

मोती कहां हैं ?
काली लहर के नीचे एक ऑक्टोपस !
तट की रेत को मुट्ठी में भरकर
तुमने जब गोता लगाने से पूर्व
समुद्र को निहारा था
तो कदाचित समुद्र की हरी-आँखें
तुम्हारे भीतर हरी पंखुरियों-सी चमक उठी थीं !
संगीत के नाचते हुए क्षणों-सी मछलियाँ
तुम्हारी त्वचा में तैर गई थीं
और शैवाल की गंध के बीच
सुख का एक चमक रहा दिन
जलपाँखियों के पंखों - सा
तुम्हारे भीतर फड़फड़ाया था !
तब तुम्हें कदाचित् यह ज्ञात नहीं था
कि काली लहरों की परतों को
सागर ने मोती ही नहीं
ऑक्टोपस की टाँगें भी दी हैं !
उस क्षण
जब तुमने सागर की आँखों से आँखें मिला

साहस कर
अथाह जल में गोता लगाया था
तुम अपने सूर्य से विच्छिन्न हो गये थे।
वह क्षण निर्णय का क्षण था
और अब तुम्हारा सत्य
आबदार मोतियों की तरलायित छाया में नहीं
आठ-आठ टाँगों की दयाहीन जकड़ में चरमरा रहा है!
और तुम्हारे संघर्ष का साक्षी
एक अथाह तरल अंधेरा है
और समुद्रतल की बूढ़ी रेत
और वह दिन
जो काँप रही शैवाल के बीच मर गया है!

मोती कहाँ हैं?
काली लहर के नीचे एक ऑक्टोपस है!

क्षण - द्वीप

उमड़ती घृणाओं के अंधे सैलाबों में
मुझे एक क्षण दो
द्वीप - सा
कि मैं
उस गीत को—
जो दूर थर - थर तरुराजि से उड़कर
प्रभात की ओर खुली
मेरी खिड़की पर आया था ;
उस हंसी को—
जो मेरे मन के (शतखण्डी) दर्पण में
सोनरंगी मछली-सी अभी जीवित है ;
उन फूलों को—
जो मेरी हथेलियों पर वसंत जगा रहे थे
और जिनका बीज
किसी का समर्पित चुम्बन है—
सब को, इन सब को
यहीं कहीं छोड़ जाऊँ
बचाऊँ !
खुद चाहे डूबूँ या बहूं
सत्यानाशी लहरों के थपेड़ों को सहूं
या डूब-तैर कर कभी
पुनः इसी तट पर आऊं !
उमड़ती - घृणाओं के अंधे सैलाबों में
मुझे एक क्षण दो—
क्षण - द्वीप ।

ऊपर को उठते हाथ

कुहरिल दिशाओं के बीच कहीं सुलग रहा
सपनों की गंध लिए सूरज का फूल हैं !

ज़ंग लगे दर्पण में सत्य अभी रोता है :
उठती हर प्रार्थना के झूठे सब रंग हैं !
प्रश्नों के अंधियारे आवर्तों बीच मगर
एक नई यात्रा के उजले प्रसंग हैं !

गर्दन झुकाये - सी आस्था की मुट्ठी में
मुर्झाई आवाजें, पथराये गीत हैं !
टूटे हथियारों से बिखरे विश्वासों में
धीरे से बजती पर किसकी यह जीत है ?

सिसक रहा टूटी कथाओं के खण्डहर में
अपने ही अस्त्रों से घायल इतिहास है।
ऊपर को उठते ये हाथ मगर किसके हैं
जिन पर टिका एक नूतन आकाश है !

धुंधलाये क्षितिज के बन्द बन्द पृष्ठों सी
पुंछने लगी स्यात् सदियों की धूल है।

उत्सुक तुम और मेरा यह टूटा रिकार्ड

कुछ आड़े - तिरछे मकानों
और संकरी गलियों के बीच
रात एक परेशान चिमगादड़-सी
अपने डैने फड़फड़ा रही है
अपने कमरे की दीवारों को
इस कुरूप शोर से बचाने के लिए
मैंने खिड़की बन्द कर दी है
और पर्दे गिरा दिये हैं।
यह विश्वास कि मेरी खिड़की किसी दिन
उन रंगों में खिल उठेगी
जिन में गुलाब हंसते हैं,

कब का मर चुका है
मेरे लिए खिड़की खोलना
अब एक प्रतीक्षा नहीं
सिर्फ अभ्यास भर है।
मैंने खिड़की बन्द कर दी है
और उस कुरूप शोर को बाहर रोक दिया है
जो चिमगादड़ के डैनों में फड़फड़ाता है।
मैं अपनी बुझ रही सिगरेट का
अंतिम कश ले रहा हूं।
शायद मैं कुछ लिखना चाहता हूं

मगर मैं ऐसा नहीं करता
क्योंकि तुम मेरी हर हरकत को घूर रहे हो
और मैं तुम्हारी आँखों में पढ़ रहा हूं यह उत्सुकता
कि मैं अपने कोट की जेब से निकालूँ
वह खूबसूरत कथा
जिस का एक छोर संगमर्मर के फव्वारों से भीगा हो
और दूसरा उस महकती हवा से
जिस पर कोई रहस्यमयी सुन्दरी
मदिर ओठों से काँपता हुआ चुम्बन
उछाल रही हो !
लेकिन मैं अपनी जेब से
दफ्तर, इमारतें, सड़कें, कारखाने
निकाल रहा हूं
और तुम भयभीत हो।
बाहर जैसे फड़फड़ा रहा चिमगादड़
मेरी खिड़की के साथ टकरा रहा है
और मैं सख्त परेशान हूं
मेहरबानी करके मुझे इस बुझ रही सिगरेट के
कुछ और कश लेने दो
और तुम रोज़मर्रापन की चादर ओढ़ कर
लेट जाओ !
शायद सपने में तुम फरिश्तों का दिव्य संगीत—
सुनोगे और मुझे क्षमा करोगे।
(यह और बात है कि मैंने
नगर के बाहर

उत्सुक तुम और मेरा यह टूटा रिकार्ड

●

कुछ आड़े - तिरछे मकानों
और संकरी गलियों के बीच
रात एक परेशान चिमगादड़-सी
अपने डैने फड़फड़ा रही है
अपने कमरे की दीवारों को
इस कुरूप शोर से बचाने के लिए
मैंने खिड़की बन्द कर दी है
और पर्दे गिरा दिये हैं।
यह विश्वास कि मेरी खिड़की किसी दिन
उन रंगों में खिल उठेगी
जिन में गुलाब हंसते हैं,

कब का मर चुका है
मेरे लिए खिड़की खोलना
अब एक प्रतीक्षा नहीं
सिर्फ अभ्यास भर है।
मैंने खिड़की बन्द कर दी है
और उस कुरूप शोर को बाहर रोक दिया है
जो चिमगादड़ के डैनों में फड़फड़ाता है।
मैं अपनी बुझ रही सिगरेट का
अंतिम कश ले रहा हूं।
शायद मैं कुछ लिखना चाहता हूं

मगर मैं ऐसा नहीं करता
क्योंकि तुम मेरी हर हरकत को घूर रहे हो
और मैं तुम्हारी आँखों में पढ़ रहा हूं यह उत्सुकता
कि मैं अपने कोट की जेब से निकालूँ
वह खूबसूरत कथा
जिस का एक छोर संगमर्मर के फव्वारों से भीगा हो
और दूसरा उस महकती हवा से
जिस पर कोई रहस्यमयी सुन्दरी
मदिर ओठों से काँपता हुआ चुम्बन
उछाल रही हो !
लेकिन मैं अपनी जेब से
दफ्तर, इमारतें, सड़कें, कारखाने
निकाल रहा हूं
और तुम भयभीत हो।
बाहर जैसे फड़फड़ा रहा चिमगादड़
मेरी खिड़की के साथ टकरा रहा है
और मैं सख्त परेशान हूं
मेहरबानी करके मुझे इस बुझ रही सिगरेट के
कुछ और कश लेने दो
और तुम रोज़मर्रापन की चादर ओढ़ कर
लेट जाओ !
शायद सपने में तुम फरिश्तों का दिव्य संगीत—
सुनोगे और मुझे क्षमा करोगे।
(यह और बात है कि मैंने
नगर के बाहर

टूटे पुल के पास
उनकी रीढ़हीन आकृतियों को ठण्ड से ठिठुरते देखा है
लेट जाओ।
मुझे तुम्हें यह बताने का साहस आज नहीं रहा
कि ज़िन्दगी - एक टूटे रिकॉर्ड - सी बेकार है
जो स्वप्न में भी बज नहीं सकता !